

काबुलीवाला

रवींद्रनाथ टैगोर

मेरी पाँच बरस की छोटी लड़की मिनी क्षण-भर भी बात किए बिना नहीं रह सकती। जन्म लेने के बाद भाषा सीखने में उसने सिर्फ एक ही साल लगाया होगा। उसके बाद जब तक वह जगी रहती है अपना एक मिनट का समय भी मौन में नष्ट नहीं करती। उसकी माँ अकसर डाँटकर उसका मुँह बंद कर देती है, किंतु मैं ऐसा नहीं कर पाता। मिनी का चुप रहना मुझे इतना अस्वाभाविक लगता है कि मैं ज़्यादा देर तक सहन नहीं कर पाता और यही कारण है कि मेरे साथ वह कुछ ज़्यादा उत्साह से ही बातचीत किया करती है।

सुबह मैंने अपने उपन्यास के सत्रहवें परिच्छेद को लिखना शुरू ही किया था कि मिनी आ गई और बोलने लगी, “बाबूजी, रामदयाल दरबान है न, वो काक को कौआ कहता था—वह कुछ जानता नहीं न बाबूजी?”

दुनिया की भाषाओं की भिन्नता के बारे में मेरे कुछ कहने के पहले ही उसने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया, “देखो बाबूजी, भोला कहता था, आकाश में हाथी सूँड से पानी फेंकता है इसी से बरसा होती है। अच्छा बाबूजी, भोला झूठ-मूठ की बकवास बहुत करता है न? खाली बक-बक किया करता है, रात-दिन बकता रहता है।”

इस विषय में मेरी राय जानने के लिए ज़रा भी इंतज़ार न करके वह चट से बड़े नरम स्वर में एक जटिल सवाल पूछ बैठी, “अच्छा बाबूजी, माँ तुम्हारी कौन लगती है?”

मैंने मन ही मन कहा, 'साली'। और मुँह से बोला, “मिनी, तू जा, जाकर भोला के साथ खेल। मुझे अभी कुछ काम है, अच्छा।”

तब उसने मेरी टेबल के बगल में पैरों के पास बैठकर अपने दोनों घुटनों और हाथों को हिला-हिलाकर जल्दी-जल्दी मुँह चलाकर 'अटकन-बटकन दही चटकन' खेलना शुरू कर दिया, जबकि मेरे उपन्यास के सत्रहवें परिच्छेद में प्रताप सिंह उस समय कंचनमाला को लेकर अँधेरी रात में कारागार के ऊँचे झरोखे से नीचे बहती हुई नदी में कूद रहा था।

मेरा घर सड़क के किनारे पर है। सहसा मिनी 'अटकल-बटकन' खेल छोड़कर खिड़की के पास दौड़ गई और बड़े ज़ोर से चिल्लाने लगी, “काबुलीवाला! ओ काबुलीवाला!”

मैंने-कुचैले ढीले कपड़े पहने, सिर पर साफ़ा बाँधे, कंधे पर मेवों की झोली लटकाए, हाथ में दो-चार अँगूर की पिटारियाँ लिए एक लंबा-सा काबुली धीमी चाल से सड़क पर जा रहा था। उसे देखकर बेटी के मन में कैसा भावोदय हुआ, यह बताना कठिन है। उसने ज़ोर से उसे पुकारना शुरू कर दिया। मैंने सोचा, अभी झोली कंधे में लटकाए एक आफ़त सिर पर आ खड़ी होगी और मेरा सत्रहवाँ परिच्छेद आज भी पूरा होने से रह जाएगा।

लेकिन मिनी के चिल्लाने पर ज्यों ही काबुली ने हँसते हुए उसकी तरफ़ मुँह फेरा और वह मकान की तरफ़ आने लगा, त्यों ही मिनी जानबूझकर भीतर भाग गई। फिर उसका पता ही नहीं लगा कि कहाँ गायब हो गई। उसके मन में एक अंधविश्वास-सा बैठ गया था कि उस झोली के अंदर तलाश करने पर उसकी जैसी और भी दो-चार जीती-जागती लड़कियाँ निकल आएँगी।

इधर काबुली ने आकर मुस्कराते हुए मुझे सलाम किया और खड़ा हो गया। मैंने सोचा, यद्यपि प्रतापसिंह और कंचनमाला की हालत अत्यंत संकटपूर्ण है, फिर भी घर में बुलाकर इससे कुछ न खरीदना अच्छा न होगा।

कुछ सामान खरीदा गया। उसके बाद मैं उससे इधर-उधर की बातें करने लगा। अब्दुर्रहमान, रूस, अंग्रेज़, सीमांत-रक्षा इत्यादि विषयों में गपशप होने लगी।

अंत में उठकर जाते वक़्त, उसने अपनी खिचड़ी भाषा में मुझसे पूछा, “बाबू साब, आपकी बिटिया कहाँ गई?”

मिनी के मन से बेकार का डर दूर करने के इरादे से मैंने उसे भीतर से बुलवा लिया। वह मुझसे बिल्कुल सटकर काबुली के मुँह और झोली की तरफ़ संदिग्ध दृष्टि से देखती हुई खड़ी रही। काबुली ने झोली में से किसमिस और ख़ूबानी निकालकर मिनी को देना चाहा, परंतु उसने कुछ भी नहीं लिया, बल्कि वह दूने संदेह के साथ मेरे घुटनों से चिपक गई। पहला परिचय कुछ इस तरह हुआ।

कुछ दिन बाद एक दिन सवेरे किसी ज़रूरी काम से मैं बाहर जा रहा था। अचानक देखता हूँ कि मेरी बिटिया दरवाज़े के पास बेंच पर बैठी हुई काबुली से ख़ूब बातें कर रही है। काबुली उसके पैरों के पास बैठा-बैठा मुस्कराता हुआ ध्यान से सब सुन रहा है और बीच-बीच में प्रसंगानुसार अपना मतामत भी खिचड़ी भाषा में व्यक्त करता जा रहा है। मिनी को अपने पाँच साल के जीवन में 'बाबूजी' के अलावा ऐसा धीरज वाला श्रोता शायद ही कभी मिला हो! देखा तो उसका छोटा-सा आँचल बादाम-किसमिस से भरा हुआ है। मैंने काबुली से कहा, “इसे यह सब क्यों दिए? अब मत देना।” यह कहकर जेब से एक अठन्नी निकालकर उसे दे दी। उसने बिना किसी संकोच के अठन्नी लेकर अपनी झोली में डाल ली।

घर लौटकर मैंने देखा कि मेरी उस अठन्नी ने बड़ा भारी उपद्रव खड़ा कर दिया है। मिनी की माँ एक सफ़ेद चमकीला गोलाकार पदार्थ हाथ में लिए मिनी से पूछ रही है, “तूने यह अठन्नी पाई कहाँ से, बता?”

मिनी ने रोने की तैयारी करते हुए कहा, “मैंने माँगी नहीं थी, उसने अपने आप दी है।”

मैंने आकर मिनी की उस आसन्न विपत्ति से रक्षा की और उसे बाहर ले आया।

पता चला कि उस काबुली के साथ मिनी की यह दूसरी ही मुलाकात हो, ऐसी बात नहीं है। इस बीच वह रोज़ आता रहा है और पिस्ता-बादाम की रिश्वत दे-देकर मिनी के छोटे-से हृदय पर उसने काफ़ी अधिकार जमा लिया है।

देखा कि इन दोनों मित्रों में कुछ बँधी हुई बातें और हँसी मौजूद है। जैसे रहमत को देखते ही मेरी बेटी हँसती हुई पूछती, “काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला, तुम्हारी झोली में क्या है?”

रहमत एक अनावश्यक चंद्रबिंदु जोड़कर हँसता हुआ उत्तर देता, “हाथी!” उसके परिहास का मर्म अत्यंत सूक्ष्म हो, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इससे इन दोनों को ज़रा विशेष कौतुक होता लगता और शरद् ऋतु के प्रभाव में एक सयाने और एक बच्चे की सरल हँसी देखकर मुझे भी काफ़ी अच्छा लगता।

उनमें और भी एक-आध बातें सामान्य तौर पर होती थीं। रहमत मिनी से कहता, “तुम ससुराल कभी नहीं जाना, अच्छा!”

हमारे यहाँ की लड़कियाँ जन्म से ही 'ससुराल' शब्द से परिचित होती हैं, किंतु हम लोग ज़रा कुछ नए ज़माने के होने के कारण छोटी-सी बच्ची को ससुराल के संबंध में विशेष ज्ञानी नहीं बना सके थे, इसलिए रहमत का अनुरोध वह साफ़-साफ़ नहीं समझ पाती थी, फिर भी किसी बात का जवाब दिए बिना चुप रहना उसके स्वभाव के बिल्कुल विरुद्ध था। उलटे वह रहमत से ही पूछती, “तुम ससुराल कब जाओगे?”

रहमत काल्पनिक ससुर के लिए अपना ज़बरदस्त मोटा घूँसा तानकर कहता, “हम ससुर को मारेगा।”

मुझे मानना पड़ता कि यह बात बिल्कुल असंभव हो, ऐसा तो नहीं, परंतु विश्वास-योग्य नहीं। विश्वास करने की शक्ति सबमें समान नहीं होती, इसलिए मेरी पत्नी के मन में डर रह ही गया, लेकिन सिर्फ़ इसलिए बिना किसी दोष के रहमत को अपने मकान में आने से मैं मना नहीं कर सका।

हर वर्ष माघ के महीने में रहमत अपने देश चला जाता है। इस समय वह अपने ग्राहकों से रुपए वसूल करने के काम में बड़ा उद्विग्न रहता है। उसे घर-घर घूमना पड़ता है, मगर फिर भी वह मिनी से एक बार मिल ही जाता है। देखने में तो ठीक ऐसा ही लगता है कि दोनों में कोई षड्यंत्र चल रहा हो। जिस दिन वह सवेरे नहीं आ पाता, उस दिन शाम को हाज़िर हो जाता। अँधेरे में घर के कोने में उस ढीले-ढाले जामा-पाजामा पहने झोला-झोली वाले लंबे-तगड़े आदमी को देखकर सचमुच ही मन में सहसा एक आशंका-सी पैदा हो जाती है।

परंतु जब देखता हूँ कि मिनी 'काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला' पुकारती हँसती-हँसती दौड़ी आती है और दो अलग-अलग उम्र के असम मित्रों में वही पुराना सरल परिहास चलने लगता है तब मेरा संपूर्ण हृदय प्रसन्न हो उठता है।

एक दिन सवेरे मैं अपने छोटे कमरे में बैठा हुआ अपनी नई पुस्तक का प्रूफ देख रहा था। जाड़ा विदा होने से पहले दो-तीन दिनों से खूब ज़ोरों से पड़ रहा था। जहाँ देखो वहाँ जाड़े की ही चर्चा है। ऐसे जाड़े-पाले में खिड़की में से सवेरे की धूप टेबल के नीचे पैरों पर आ पड़ी तो उसकी गरमी मुझे आनंद-विभोर कर गई। करीब आठ बजे होंगे। सिर में गुलूबंद लपेटे प्रातः भ्रमण करने वाले अपना भ्रमण समाप्त करके लोग अपने-अपने घर की तरफ लौट रहे थे। ठीक इसी समय सड़क पर एक ज़ोरदार शोर सुनाई दिया।

देखता हूँ, अपने उसे रहमत को दो सिपाही बाँधे लिए चले जा रहे हैं। उसके पीछे बहुत से कुतूहली लड़कों का झुंड चला जा रहा है। रहमत के कुरते पर खून के दाग हैं और एक सिपाही के हाथ में खून से सना हुआ छुरा। मैंने दरवाज़े से बाहर निकलकर सिपाही को रोक लिया। पूछा, “क्या बात है?”